

## दूसरा अध्याय

### आलोचना परम्परा और प्रमुख हिन्दी आलोचक

आलोचना अपने उदय से विकास तक अनेक पड़ावों से होकर गुजरी है, जिसका विकास अनेक पद्धतियों के माध्यम से आलोचकों ने किया है। रीतिकाल से प्रारम्भ हुई आलोचना आधुनिक युग में परिष्कृत हुई तथा उसका पूर्ण विकास हुआ शुक्ल युग में। लगातार नए प्रतिमानों का निर्माण तथा आलोचकों की प्रतिबद्धता ने आलोचना को विकास के चरम पर पहुंचाया है। आलोचना की इस विकास यात्रा को आलोचना की परम्परा तथा आलोचकों के योगदान से समझा जा सकता है।

#### 2.1 आलोचना परम्परा

संस्कृत काव्यशास्त्र की समृद्ध परम्परा में भरतमुनि से प्रारम्भ होकर जगन्नाथ तक काव्य के सभी गुण - दोषों का विवेचन मौलिक स्थापनाओं व सिद्धान्तों के आधार पर होता रहा। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को आधार बनाकर जो काव्यालोचना होती रही वह काव्यशास्त्रीय परम्परा की ही देन थी। रीतिकालीन आचार्य इसी काव्यशास्त्रीय परम्परा की लीक पर चलते रहे जिन्होंने काव्यचर्चा को लक्षणग्रन्थों तक सीमित कर दिया। नायिका - भेद, नख - शिख वर्णन तथा लक्षण - ग्रन्थों तक ही रीतिकालीन आचार्यों की दृष्टि पहुँच पाई। मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण यह आचार्य नहीं कर पाए जिस कारण आलोचना का विकास इस काल में नहीं हो पाया।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय समाज में आधुनिक काल का आगमन हुआ, जिसने इतिहास, समाज व साहित्य को पूरी तरह प्रभावित किया। आधुनिक काल में शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम और अंग्रेजी के प्रचार - प्रसार के कारण पढ़े - लिखे लोगों की एक पूरी जमात पैदा हुई, समाज - सुधार के अनेक आन्दोलन समाज में उभरे और नवजागरण का आगाज हुआ। सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, धार्मिक - रुढ़िवाद के खिलाफ चले आन्दोलनों ने भारतीय जनमानस को

पूरी तरह प्रभावित किया। साहित्य भी इन प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता था। आधुनिकता की इन विशेषताओं को साहित्य व आलोचना ने ग्रहण किया। इसी समय हिन्दी में गद्य आलोचना का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग में पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क तथा बौद्धिक जागृति के साथ आधुनिक समीक्षा का जन्म हुआ। प्रेस व गद्य के विकास से मध्यकालीन आलोचना के स्वरूप में पाश्चात्य समीक्षा प्रणाली के सम्मिश्रण से आलोचना के नये प्रतिमान बनने लगे। रचनाकारों की चिन्ता साहित्य निर्माण के साथ - साथ जनरुचि के परिष्कार की बनी।

शुरुआती दौर में पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के रूप में ही आलोचना आगे बढ़ रही थी। 1877 से 1910 तक प्रकाशित पत्रिका 'हिन्दी प्रदीप' ने हिन्दी में गम्भीर आलोचना की शुरुआत की। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'भारतमित्र', 'ब्राह्मण' आदि पत्रिकाओं में भी आलोचनात्मक लेख छपने लगे थे। भारतेन्दु युग की आलोचना रीतिकालीन रूढ़ियों से मुक्त होकर ही सार्थक हुई। जिसकी सार्थकता की भूमि में सक्रिय रहा स्वाधीनता आन्दोलन और पाश्चात्य साहित्य - चिन्तन का प्रभाव। इस युग में नई विधाओं के उद्भव व नई रचनाशीलता के विकास से हिन्दी आलोचना के मूल्यों में भी परिवर्तन व विकास हुआ। समाज व जीवन के यथार्थ के बदल जाने से रचना का रूप बदला और रचना के साथ ही बदली आलोचना। हिन्दी आलोचना की परम्परा को समग्रता में जानने के लिए प्रमुख आलोचकों के आलोचना - कर्म का अध्ययन आवश्यक है।

## 2.2 प्रमुख हिन्दी आलोचक

हिन्दी आलोचना के प्रारम्भ तथा उसके विकास में अनेक आलोचकों ने अपना योगदान दिया है। कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचकों का परिचय हम यहां देंगे जिनके विवेक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिन्दी आलोचना पली - बढ़ी व परिपक्व हुई है।

### भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850 - 1885)

भारतेन्दु युगनिर्माता साहित्यकार थे। उन्होंने 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' व 'बाला बोधिनी' में प्रकाशित अपने विचारों से भाषा और साहित्य के परिष्कार के साथ - साथ आधुनिक हिन्दी आलोचना का स्वरूप निर्माण किया है। भारतेन्दु जी ने कालिदास, जयदेव और

सूरदास की चरितावली लिखी जिससे हिन्दी आलोचना का स्वरूप विकसित हुआ। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में नाटकों के बारे में विचार प्रकट किए हैं। 'नाटक' नामक निबन्ध में आलोचनात्मक गुणों के कारण ही भारतेन्दु को हिन्दी का पहला आलोचक भी माना जाता है। 1883 ई. में प्रकाशित इस 'नाटक' नामक रचना से ही आलोचना की विधिवत शुरुआत मानी जाती है। भारतेन्दु ने 'नाटक' पर चर्चा उसकी प्रकृति, जनरुचि व नाट्यशास्त्र के अनुसार की। जनरुचि के अनुसार नाट्यशास्त्र के नियमों में परिवर्तन को भारतेन्दु ने जरूरी माना और हिन्दी नाटकों के स्वरूप - निर्धारण की रूपरेखा तैयार की। रीतिकाल की दरबारी संस्कृति से पोषित साहित्य को भारतेन्दु ने ('अन्धेर नगरी' जैसे प्रहसन में राजाओं पर व्यंग्य करते हुए) चुनौती दी व साहित्य के नए सरोकार स्थापित किए।

हिन्दी के आलोचकों ने भारतेन्दु की आलोचना के महत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "भारतेन्दु ने जीवन और साहित्य के विच्छेद को दूर कर हिन्दी साहित्य को एक नए मार्ग पर खड़ा किया जिससे उसमें नए विचारों और भावनाओं का संचार हो सका।"<sup>1</sup> आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने भारतेन्दु के साहित्य को जनसाहित्य की संज्ञा दी।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भारतेन्दु के साहित्य में मानव - संवेदना को रेखांकित किया, उनके अनुसार, "भारतेन्दु के समय तक स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका था और छन्द एवं लक्षण निरूपण की जगह मानव सम्वेदना और अनुभूति की गहराई ने ले ली थी।"<sup>2</sup> संवेदना तथा अनुभूति पर आधारित भारतेन्दु का साहित्य समानता तथा भाईचारे का साहित्य है।

### चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' (1855 - 1923)

चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने 'नीलदेवी' व 'बंग विजेता' की समीक्षाएं लिखी। उन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' में 'परीक्षा गुरु' व 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना लिखकर उस युग के आलोचकों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाते हुए

<sup>1</sup> आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 234

<sup>2</sup> आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 56

इन्होंने समूचे जीवन पर दृष्टिपात किया। लेखक के साथ - साथ पत्रकार होने के कारण ही इन्होंने पैनी दृष्टि से ज्ञान - विज्ञान के नए आलोक में साहित्य व जीवन के सम्बन्धों को समझा। प्रेमघन ने समालोचना को दर्पणतुल्य मानते हुए लिखा है, “सच्ची समालोचना एक स्वच्छ दर्पण तुल्य है कि जो शृंगार की सजावट को दिखाती है और उसके दोषों तथा साहित्य की दृष्टाकृति को बतलाती है।”<sup>1</sup>

### बालकृष्ण भट्ट (1844 - 1914)

बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को सामाजिक भावनाओं से युक्त माना व इसे समाज की सम्पूर्णता में देखने का आग्रह किया। बालकृष्ण भट्ट ने अपने लेख ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास’ में साहित्य का उद्देश्य बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। भट्ट जी ने ‘नीलदेवी’ नाटक तथा ‘परीक्षागुरु’ उपन्यास की समीक्षा की। भट्ट जी की परीक्षागुरु, संयोगिता स्वयंवर और एकांतवासी योगी की समीक्षा पत्रिकाओं में छपी, “शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को नई आलोचना का जन्मदाता कहा है।”<sup>2</sup>

“बालकृष्ण भट्ट कविता में रीतिवाद के विरोधी थे। कविता को अतिशय बनाव शृंगार से मुक्त करके वे उसके हृदय के छूने और सीधे प्रभावित करने वाले गुण को प्रोत्साहित करने वाले आलोचक थे।”<sup>3</sup> अक्तूबर 1886 में ‘हिन्दी प्रदीप’ में ‘सच्ची कविता’ शीर्षक लेख में उन्होंने स्वच्छंदतावाद को महत्त्व देते हुए रीतिवाद का विरोध किया है। बालकृष्ण भट्ट के योगदान को रेखांकित करते हुए मधुरेश ने लिखा है कि “हिन्दी आलोचना के विकास में बालकृष्ण भट्ट की भूमिका, भारतेन्दु युगीन किसी भी दूसरे आलोचक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और दूरगामी है। वे परवर्ती आलोचना को गहराई से प्रभावित ही नहीं करते, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचक - व्यक्तित्व की संभावनाएं भी जगाते हैं। अपने ही ‘हिन्दी प्रदीप’ में ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ शीर्षक अपना सुप्रसिद्ध निबन्ध उन्होंने 1881 में लिखा था। अपने इसी निबन्ध में

<sup>1</sup> मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 22

<sup>2</sup> रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 189

<sup>3</sup> मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 18

उन्होंने साहित्य को व्यापक जनसमूह से जोड़कर साहित्य में रीतिवाद के विरुद्ध विधिवत अभियान छेड़ा।”<sup>1</sup>

### महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864 - 1938)

द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिन्दी की रचनाओं के साथ - साथ आलोचना का भी विकास किया। द्विवेदी जी के लेखन में अतीत की भूमि के साथ नवीनता का आह्वान था। वे जन साधारण की रुचि का परिष्कार करना साहित्य की अनिवार्य शर्त मानते थे। उनका मानना था कि साहित्य सिर्फ मनोरंजन तक सीमित नहीं होना चाहिए बल्कि उसमें सामाजिक विकास की बात भी होनी चाहिए। नंददुलारे वाजपेयी जी के अनुसार “इस युग के प्रवर्तक ‘पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी’ ने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्त्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत - प्रोत थी।”<sup>2</sup> द्विवेदी जी ने साहित्य को संजीवनी शक्ति और प्रेरणा माना व सामाजिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की।

सरस्वती में द्विवेदी जी ने परिचयात्मक आलोचना को प्रोत्साहन दिया तथा आलोचक के कर्तव्य का निर्धारण करते हुए लिखा ‘किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है वह विशेष उपयोगी है या नहीं है, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं हो सकता, उससे किसी को भी लाभ पहुंच सकता है या नहीं पहुंच सकता। लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं लिखी है। यही विचारणीय विषय हैं, जो आलोचना में आने चाहिए। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।’ द्विवेदी जी ने रचना की सामाजिकता पर बल दिया “महावीर प्रसाद द्विवेदी आलोचना में जिस सामाजिक और नैतिक आग्रह पर बल दे रहे थे उसमें शृंगार रस की अतिरंजित भूमिका का विरोध भी शामिल था।”<sup>3</sup>

<sup>1</sup> मधुशेखर, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 17

<sup>2</sup> श्री रामप्रसाद द्विवेदी, प्रगतिवादी समीक्षा, ग्रंथ प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ - 88

<sup>3</sup> मधुशेखर, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 31

## पदमसिंह शर्मा (1876 - 1932)

पदमसिंह शर्मा (1876 - 1932) ने 'बिहारी सतसई' की तुलनात्मक आलोचना की। 1907 में इनकी 'बिहारी और देव' पुस्तक आई। उन्होंने बिहारी सतसई के दोहों का मिलान 'आर्यासप्तशती' व 'गाथा सप्तशती' के पद्यों के साथ किया। बिहारी की अन्य कवियों के साथ तुलना करने के पीछे उनका उद्देश्य बिहारी पर लगे आक्षेपों (जो देव को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के लिए अन्य आलोचकों द्वारा लगाए गए थे) को हटाकर उन्हें देव से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। पदमसिंह शर्मा काव्य में चमत्कार खोजते थे और जहां भी उन्हें थोड़ा सा भी चमत्कार मिल जाता उसे पूरी तड़क - भड़क के साथ कहते थे। आचार्य शुक्ल ने इनकी जादूगरी भरी शैली को, "बिना जरूरत के जगह - जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज" <sup>1</sup> कहा है। पदमसिंह शर्मा ने हिन्दी आलोचना को विस्तृत रूप प्रदान किया जिससे आलोचना में नवीन पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

शृंगार को काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हुए पदमसिंह शर्मा ने लिखा है, "बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार कर लेते हैं पर शृंगार रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार - सा या तेजाब - सा खटकता है। वह शृंगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता की वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं" <sup>2</sup>

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884 - 1940)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना द्विवेदी युग से खाद - पानी ग्रहण करके सामाजिकता, नैतिकता, स्वस्थ भारतीय परम्परा के प्रति प्रेम व रचना के भावों को महत्त्व देते हुए आगे बढ़ी, "आचार्य शुक्ल हिन्दी प्रदेश की पददलित और अपमानित जनता के सम्मान रक्षक थे। विरोधियों से ज्यादा बहस में न पड़कर उन्होंने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया।" <sup>3</sup>

<sup>1</sup> आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 63

<sup>2</sup> मधुपेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 31

<sup>3</sup> रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 178

सामंजस्यमयी प्रवृत्ति व लोकमंगल की भावना ने शुक्ल जी को आलोचना परम्परा के शीर्ष पर बैठाया। शुक्ल जी की लोकमंगल की भावना उनके लोक के प्रति मोह का ही परिणाम है। उनका मानना है कि “मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या, किसी भी कला का प्रयोजन या विकास होता है।”<sup>1</sup> उन्होंने साहित्य को ‘जनता की संचित प्रवृत्तियों का बिम्ब’ माना। शुक्ल जी ने जनतांत्रिक साहित्य की वकालत की। साहित्य के गतिशील रूप को महत्ता देने के कारण शुक्ल जी यथार्थवादी आलोचक कहलाए, “शुक्ल जी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य - प्रेमी हैं। उनकी तर्क - योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं।”<sup>2</sup>

शुक्ल जी आलोचना के एकांगीपन को रचना के लिए घातक मानते हैं व आलोचना के सभी अंगों पर समान बल देते हैं। वाजपेयी जी के अनुसार, “उनका संदेश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए बल्कि वह सब अंगों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए।”<sup>3</sup>

शुक्ल जी ने साहित्यिक विचारों पर ध्यान देने के साथ - साथ पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, विद्यापति की पदावली की शृंगारिकता व भक्ति सम्बन्धी बहस पर अपनी राय भी दी। प्राचीन के साथ नवीन का तालमेल बैठाने में शुक्ल जी सिद्धहस्त थे। निर्मला जैन के अनुसार, “आचार्य शुक्ल के हाथों में वस्तुतः हिन्दी की निजी प्रौढ़ आलोचना शैली का विकास हो चुका था। यह शैली पश्चिम के कलावाद और हिन्दी के मध्ययुगीन अलंकार रीतिवाद से भिन्न हिन्दी की अपनी ठेठ मौलिक आलोचना शैली थी। उनकी आलोचना की खास बात यह थी कि उन्होंने शास्त्र की सर्वथा मौलिक व्याख्या कर उसे आधुनिक और समयापयोगी बनाया।”<sup>4</sup>

शुक्ल जी के आलोच्य विवेक पर पश्चिम का जितना प्रभाव है उतना ही नकार भी। हिन्दी आलोचना को संस्कृत आलोचना से अलग करने के लिए उन्होंने पश्चिमी काव्य - मूल्यों की

<sup>1</sup> आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि: भाग - 1, श्रीवास्तव इंडियन प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 23

<sup>2</sup> डा. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 207

<sup>3</sup> शिवकुमार मिश्र, हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 162

<sup>4</sup> निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 38

सहायता जरूर ली लेकिन पश्चिमी आलोचना को सर्वश्रेष्ठ समझने की बजाय उन्होंने क्रोचे के ‘अभिव्यंजनावाद’ को ‘स्वच्छन्दतावाद’ का विलायती उत्थान तक कहने की हिम्मत दिखाई, “शुक्ल जी की आलोचना - पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है, न पश्चिम के काव्यशास्त्र का।”<sup>1</sup> शुक्ल ने हिन्दी आलोचना के वैचारिक विकास में जो योगदान दिया है उसी साहित्य चिन्तन और विवेक निर्माण की प्रक्रिया को समझते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, “आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इतिहास, दर्शन, भाषाशास्त्र, विज्ञान और साहित्य सम्बन्धी नए पुराने चिन्तन की वैचारिक यात्रा करने के बाद एक सुनिश्चित अर्जित नई दृष्टि से ही परम्परा के मूल्यांकन, वर्तमान की अवस्थाओं की पहचान और भावी विकास की दिशा खोजने का प्रयास किया।”<sup>2</sup> आचार्य शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को एक दिशा दिखाई तथा नई भाषा दी। इस प्रकार, “शुक्ल जी हिन्दी समीक्षा का सम्पूर्ण वैभव समेटकर खड़े हुए”<sup>3</sup> पर हमें यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि इस सम्पूर्णता में गद्य विधाओं (उपन्यास, कहानी, नाटक आदि) का मूल्यांकन न के बराबर है, वे मात्र कविता की चीर - फाड़ में ही लगे रहे। गद्य में भारतेन्दु और प्रेमचन्द पर टिप्पणी करते हुए वे आगे बढ़ गए हैं, “शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को एक ठोस आधार दिया।”<sup>4</sup>

### आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (1906 - 1967)

वाजपेयी जी ने ‘नया साहित्य: नए प्रश्न’, ‘हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी’, ‘महाकवि सूरदास’ आदि रचनाओं में काव्य - तत्व के रूप में अनुभूति व कल्पना को महत्त्व प्रदान किया। वे चेतना संपन्न अनुभूति को काव्य की प्रेरणा और प्रयोजन दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं। उनकी आत्मानुभूति में ही मानव - मुक्ति की प्रेरणा निहित है। कला तथा साहित्य में दार्शनिक व साहित्यिक सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्या करने के वे विरोधी रहे। उनका मानना है कि “किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परीक्षा नहीं की जा सकती।

<sup>1</sup> डा. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 191

<sup>2</sup> डा. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 91 - 92

<sup>3</sup> नामवर सिंह, हिन्दी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 123

<sup>4</sup> डा. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 12



सिद्धान्त का दायरा सीमित होता है, जबकि कला की कोई सीमा नहीं है, उसे किसी बन्धन में नहीं बांधा जा सकता। केवल सौन्दर्य की परख के कोई निश्चित आधार नहीं बताए जा सकते।”<sup>1</sup> इसी मत के कारण वाजपेयी जी ने रस सिद्धान्त व शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि की कमियों का उल्लेख किया। शुक्ल जी के शिष्य होने के बावजूद इन्हें शुरू से ही उनसे असहमति थी और इन्होंने यहाँ तक कहा कि ‘शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के बालारूण हैं।’ ये हिन्दी के पहले आलोचक हैं जो शुक्ल के प्रत्यक्ष विरोधी रहे, “नन्ददुलारे वाजपेयी ने विश्वविद्यालय में छात्र रहते हुए शुक्ल जी के काव्य - प्रतिमानों को दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया।”<sup>2</sup> वाजपेयी जी ने भक्तिकाल का प्रश्न उठाते हुए भक्तिसम्बन्धी आलोचना में तुलसी के बजाय सूरदास को महत्त्वपूर्ण माना जिससे तुलसीदास व कबीर के अलावा सूरदास के रूप में तीसरी परम्परा सामने आयी। वाजपेयी जी ने निराला व प्रसाद के पक्ष में काम किया व प्रेमचन्द की आलोचना की। भक्तिकाल व छायावाद में वाजपेयी का महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप रहा, “वाजपेयी जी ने एक तरफ लोकमंगल और नैतिकता की बात का जोरदार खण्डन किया वहीं छायावाद और रहस्यवाद के समर्थन में खड़े हुए।”<sup>3</sup> वाजपेयी जी का रस सम्बन्धी मत मानवतावादी है। वे रस की स्थिति व्यक्तिगत अनुभूतियों की बजाय सार्वजनिक सुख - दुख में मानते हैं। वाजपेयी जी विज्ञान के फेर में न पड़कर साहित्यिक मूल्यों को महत्त्व देते हैं। उनका मानना है कि “उँचे - उँचे आदर्श, नैतिकता, बौद्धिकता आदि साहित्य का नियन्त्रण नहीं कर सकते। साहित्य की स्वतंत्र सत्ता, स्वतंत्र प्रक्रिया और उसकी परीक्षा स्वतंत्र साधन है। साहित्य मानव की उद्भावना या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसकी परीक्षा बाह्य स्थूल व्यापार या बौद्धिक संस्कारों के द्वारा नहीं की जा सकती।”<sup>4</sup> वाजपेयी जी विशुद्ध साहित्यिक संवेदना व अनुभूति के पक्षधर हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी उपयोगितावाद व कलावाद दृष्टियों का नकार करते हैं। आलोचना के लिए वे समसामयिक समस्याओं, परिस्थितियों व विचारधाराओं को महत्त्व देते हैं जिनको जाने

<sup>1</sup> डा. नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 83

<sup>2</sup> नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 24

<sup>3</sup> डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 48

<sup>4</sup> डा. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 44

बिना आलोचना सम्भव नहीं है। अपनी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका में लिखते हैं कि "जीवन और समाज के स्थिर और गतिशील दोनों तत्व साहित्य सर्जन के लिए अनिवार्य हैं। इसलिए मैं समीक्षा का भविष्य उन प्रतिभा संपन्न अध्ययनशील लेखकों पर अवलम्बित मानता हूँ, जो साहित्यिक परंपराओं के साथ ही समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानते हैं।"<sup>1</sup> साहित्य क्योंकि समाज की सजग और शक्तिशाली चेतना को प्रभावित करता है इसलिए साहित्यकार का समसामयिक होना जरूरी है।

### आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907 - 1979)

द्विवेदी जी ने सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, साधना, नाथ संप्रदाय, मेघदूत: एक पुरानी कहानी, कालिदास की लालित्य योजना, मृत्युंजय रवीन्द्र, लालित्य तत्व, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद आदि रचनाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना को शीर्ष पर पहुँचाया, "मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा और उसकी अपराजेय जययात्रा में दृढ़ विश्वास ही द्विवेदी जी को ज्ञान और पाण्डित्य के क्षेत्र में निरंतर उत्कर्ष की ओर प्रवृत्त करता रहा और उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, वह किसी की कृपा से नहीं बल्कि अपने ही श्रम और अपनी ही भीतरी ऊर्जा के बल पर।"<sup>2</sup> द्विवेदी जी ने 'कबीर' नामक पुस्तक में जो कबीर का व्यक्तित्व - विश्लेषण किया है वह उनके सम्पूर्ण आलोचना कर्म का अदभुत परिचय है। द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि के साथ 'कबीर' की जो आलोचना की है वह महत्त्वपूर्ण है। कबीर पर अन्य आलोचकों द्वारा लगाए गए आरोपों को द्विवेदी जी ने खारिज किया और जब कबीर की भाषा को कुछ आलोचक असाहित्यिक और ऊटपटांग कह रहे थे तब द्विवेदी जी ने कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर और व्यंग्य का बादशाह' कहा, "चिन्तन क्रम में द्विवेदी जी जहां परम्परा से प्राप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वहीं साहित्य - सम्बन्धी एक नई मान्यता भी सामने आती है। इस प्रकार एक नए इतिहास के साथ आलोचना का एक नया मान भी

<sup>1</sup> डा. नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 2

<sup>2</sup> विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ - 11

दृष्टिगोचर होता है। ‘कबीर’ के साथ इतिहास की एक भिन्न परम्परा ही नहीं आती, साहित्य को जांचने - परखने का एक प्रतिमान भी प्रस्तुत होता है।”<sup>1</sup>

मनुष्य को मुख्य व बाकी सब चीजों को गौण मानने वाले द्विवेदी का दृष्टिकोण मानवतावादी है। ‘सूर साहित्य’ की रचना करते हुए उन्होंने लोकजीवन की धारा को स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में सूरदास की गोपियों का प्रेम परिवार, व समाज की मान्यताओं को तोड़ता है, इसी कारण वे सूरदास जी को लोकवादी मानते हैं। इसी तरह से सिद्धों और नार्थों के काव्य को भी वे उसकी सामाजिकता के कारण महत्त्वपूर्ण मानते हैं जिनमें जात - पात, आडम्बरो व रुढ़ियों का खण्डन किया गया है।

द्विवेदी जी साहित्य रचना में जनरुचि का जितना ध्यान रखते हैं उतना ही जनभाषा का भी रखते हैं। उनका मानना है कि लोकभाषा ही वास्तविक व सच्ची भाषा है। जिसमें सपाटता व सीधापन है, न कहीं घुमाव - फिराव है और ना ही शैली में कोई आडम्बर। लोकभाषा को साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण मानने वाले द्विवेदी की रचनात्मक भाषा पर लोकभाषा का प्रभाव है, “लोक - जीवन की भूमि से द्विवेदी जी को हिन्दी की अपनी जातीय परम्परा और भावबोध विरासत में मिला।”<sup>2</sup>

द्विवेदी जी इतिहास को घटनाचक्र नहीं बल्कि जीवन का प्रवाह मानते हैं, जिसमें संघर्ष की प्रेरणा निहित होती है। द्विवेदी जी ने आदिकाल से भक्तिकाल और फिर इतिहास और आधुनिकता की बहस में जीवन व साहित्य के प्रत्येक पहलू को छूआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचना कर्म अपनी व्यापकता व मौलिकता के लिए जाना जाता है। नामवर सिंह ने ‘दूसरी परम्परा की खोज’ में द्विवेदी जी के साहित्य के बारे में लिखा है कि “साहित्य में आत्मवेदना का ऐसा अनावृत स्वर तुलसी और शायद निराला के बाद यहीं सुनने को मिलता है।”<sup>3</sup> शुक्ल के समकक्ष द्विवेदी स्वयं दूसरी परम्परा का परिनिधित्व करते हैं। नामवर सिंह ने साहित्य की इस दूसरी

<sup>1</sup> नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 20 - 21

<sup>2</sup> वही, पृष्ठ - 18

<sup>3</sup> वही, पृष्ठ - 139

परम्परा को द्विवेदी के माध्यम से कबीर के रूप में खोजा है, “दूसरी परम्परा की खोज सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्तर पर हिन्दी गद्य आलोचना की चरम परिणति है।”<sup>1</sup>

### प्रकाशचन्द्र गुप्त (1908 - 1970)

गुप्त जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य: एक दृष्टि (1952), हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा(1953), साहित्यधारा(1956), नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि (1955) आदि आलोचनात्मक कृतियों की रचना की।

प्रकाशचन्द्र गुप्त का हिन्दी आलोचना में प्रादुर्भाव 1935 - 36 के आस - पास हुआ जो प्रगतिशील आन्दोलन के उद्भव का भी समय था। ‘हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा’ में हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालखण्डों की प्रवृत्तियों का मार्क्सवादी दृष्टि से अध्ययन किया। गुप्त जी का मानना है कि साहित्य सिर्फ अन्तर्मन की अनुभूतियों और कल्पनाओं से ही नहीं रचा जाता बल्कि सामाजिक यथार्थ का पुट भी साहित्य में जरूरी है। गुप्त जी उच्च कोटी का साहित्य उसी को मानते हैं जो विचारों व अनुभूतियों के आधार पर साहित्य रचना करके समाज में बदलाव ला सके तथा विसंगतियों से लड़ने की प्रेरणा दे सके।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचना दृष्टि एकांगी न होकर समग्रतावादी है। गुप्त जी साहित्य के लिए जनसाधारण की भाषा को ग्रहण करना जरूरी समझते हैं क्योंकि जिन लोगों के लिए साहित्य की रचना की जाती है वे साधारण भाषा में ही उसे समझ सकते हैं और इसी से रचनाकार का उद्देश्य पूरा होता है। गुप्त जी की सैद्धान्तिक आलोचना जहां जीवन के यथार्थ चित्रण की बजाय जीवन की सतत गतिशीलता में निहित है वहीं व्यावहारिक आलोचना सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के विश्लेषण की पक्षधर है।

गुप्त जी मध्ययुगीन साहित्य का विश्लेषण करते हुए उसे चेतना सम्पन्न साहित्य मानते हैं। जनता के दुख - दर्द और वेदना से पूर्ण यह युग साहित्य में मानव जीवन की प्रतिष्ठा का ध्येय रखता है। गुप्त जी ने संत कवियों की विचारधारा को ‘मानवतावादी विचारधारा’ कहा है। उनके अनुसार

<sup>1</sup> नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 40

कबीर के काव्य में मनुष्य का महत्त्व सर्वोच्च है तो सूरदास जीवन की अनुभूतियों से सराबोर है और तुलसी लोक जीवन के संवाहक। भारतेन्दु युग के साहित्य को गुप्त जी 'युग संधि का साहित्य' कहते हैं। जिसमें काव्य की प्राचीनता के साथ गद्य की नवीनता मौजूद है।

### शमशेर बहादुर सिंह (1911 - 1993)

मूलतः कवि होने के साथ शमशेर बहादुर सिंह एक प्रखर आलोचक थे। अज्ञेय के 'तार सप्तक' में नई कविता को नई दृष्टि मिली। दूसरे 'तार सप्तक' में शमशेर बहादुर सिंह को प्रमुख स्थान मिला। एक समीक्षक के रूप में शमशेर की समीक्षाएं समकालीन साहित्य पर 'हंस' तथा 'नया साहित्य' में छपने लगी थी। 1947 में वे एक आलोचक के रूप में हिन्दी आलोचना जगत में उभरे। 1948 में उनकी आलोचनात्मक पुस्तक 'दो आब' आई। शमशेर ने सुभद्रा कुमारी चौहान, सुमित्रानंदन पंत, नरेन्द्र शर्मा, हरिवंश राय बच्चन आदि की रचनाओं की समीक्षा की। सुभद्रा कुमारी चौहान को शमशेर 'राष्ट्रीय बसन्त की प्रथम कोकिला' कहते हैं। वे कहते हैं कि सुभद्रा कुमारी चौहान के काव्य में कोई छलावा या तीखापन नहीं है बल्कि दर्द, उमंग और संवेदना है जो उनके काव्य को उत्कृष्ट बनाते हैं। पंत की काव्य यात्रा का वर्णन करते हुए वे 'ग्राम्य' और 'पल्लव' के माधुर्य और भावों के संतुलन को मनमोहक बताते हैं। छायावादी कवियों की मुक्त छंद प्रवृत्ति के बारे में प्रचार को वे जल्दबाजी समझते हुए कहते हैं कि "मुक्त छंद का हिन्दी के सन्दर्भ में अभी विवेचन नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम निराला, प्रसाद, पंत आदि की काव्यकला का विश्लेषण अभी मोटे तौर से भी नहीं हो सका है।"<sup>1</sup> बच्चन शमशेर के प्रिय कवि हैं उनकी चर्चित कविता 'बंगाल का काल' में वर्णित अकाल की स्थिति और धर्मनिरपेक्षता के अभाव का जो वर्णन है उसे शमशेर ने बहुत पसंद किया। हिन्दी के कहानीकारों अशक और कृश्चन्द्र के अलावा उन्होंने उर्दू साहित्य पर भी लिखा। अल्लाफ हुसैन 'हाली' और मैथिलीशरण गुप्त का तुलनात्मक अध्ययन शमशेर ने किया।

<sup>1</sup> डा. रामबक्ष, समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 211

शमशेर बहादुर सिंह रचना में डूबकर मुग्धभाव से उसकी समीक्षा करते हैं। उन्होंने धैर्यवान और संवेदनशील आलोचक के रूप में पहचान बनाई। शमशेर के चिंतन का मुख्य बिन्दु प्रभाववादी आलोचना है, वे कृति का प्रभाव ग्रहण कर उसके प्रभाव का विश्लेषण करते हुए ही आलोचना करते हैं। शमशेर की एक खासियत यह भी है कि वे निर्ममतापूर्ण बात को भी बहुत उदारता के साथ कह जाते हैं। वे आलोचक के रूप में अपना पक्ष जरूर रखते हैं लेकिन किसी का विरोध करने के लिए नहीं। शमशेर का मानना है कि रचना और रचनाकार की प्रकृति को जानना आलोचक का मुख्य धर्म है। वे लेखक और उसकी लेखनी से बहुत प्यार करते हैं, और रचना पर मुग्ध होकर आलोचना लिखते हैं। 1941 में लिखे 'मुक्त छंद' नामक निबंध में शमशेर ने आलोचना के कर्म, उसके दायित्व एवं स्वरूप पर अपने विचार रखे हैं। शमशेर का मानना है कि किसी भी काल के साहित्य को बारीकी से जाने बिना उस काल की प्रवृत्तियों के बारे में अपनी राय नहीं दी जा सकती।

### **रामविलास शर्मा (1912 - 2000)**

शर्मा जी की प्रमुख रचनाएं भारतेन्दु युग (1946), संस्कृति और साहित्य (1949), लोक जीवन और साहित्य (1951), प्रेमचन्द और उनका युग (1952), प्रगति और परम्परा (1953), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1953), प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं (1954), निराला (1955), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955), भाषा और समाज (1961), निराला की साहित्य साधना, भाग - 1, 2 और 3 (1966, 1972 और 1976), भारतीय सौन्दर्यबोध और तुलसीदास (2001), परम्परा का मूल्यांकन, भाषा, युगबोध और कविता आदि हैं।

प्रारम्भिक रचनाओं में शर्मा जी ने साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की व्यावहारिक समीक्षा की जिसका विकास बाद की प्रौढ़ सैद्धान्तिक समीक्षा में हुआ। उनका मानना है कि विचार और अनुभूति के बिना मात्र कला या कल्पना के सहारे उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं की जा सकती, बल्कि इसके लिए कल्पना और विचार का समन्वय आवश्यक है। उनके अनुसार, "साहित्य में मनुष्य की बाह्य इन्द्रियां, हृदय और मस्तिष्क तीनों का समन्वय होता है। रूप, भावना तथा विचारों

की एकता से कला सृष्टि संभव है।”<sup>1</sup> रामविलास शर्मा का मानना है कि भावना या विचार समाज निरपेक्ष नहीं हो सकते, समाज में रहते हुए ही हमारे भाव व विचार बनते हैं। समाज में प्रगतिशील व प्रतिक्रियावादी तत्वों में जो द्वन्द्व चलता है उसी से समाज को गति मिलती है, इस गति को समझकर जनसाधारण से जुड़कर ही कोई साहित्यिक या आलोचनात्मक कृति प्रगतिशील बनती है।

डा. रामविलास शर्मा की साहित्य को समझने की मार्क्सवादी दृष्टि थी और इसी कारण भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास को जहाँ समन्वयवादी व लोकमंगलकारी समझा जा रहा था उस समय इन्होंने तुलसीदास की कृतियों में सामन्तवाद विरोधी मूल्यों की खोज करते हुए उनका नया रूप पेश किया, “आलोचना की जिस परम्परा को महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ऐतिहासिक विवेक, आचार्य शुक्ल द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा आचार्य द्विवेदी ने सांस्कृतिक ऋद्धि और सृजनात्मक प्रकृति प्रदान की उसी समूची परम्परा से टकराकर रामविलास शर्मा ने उसे आत्मसात कर हिन्दी आलोचना को भविष्य - विधायक जुझारू चेतना प्रदान की।”<sup>2</sup> डा. शर्मा ने तुलसीदास व निराला पर सर्वाधिक लिखा, इनके अतिरिक्त भारतेन्दु, प्रेमचन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचनात्मक पुस्तकें लिखकर प्रगतिशील आलोचना को आगे बढ़ाया। डा. शर्मा की आलोचना किसी वाद या शैली का अनुकरण मात्र नहीं है, यह भारतीय व पाश्चात्य शैलियों के सम्मिलन से विकसित मार्क्सवादी पद्धति पर विकसित मौलिक आलोचना शैली है। सर्वसमावेशी विद्वत्ता, विस्तृत लेखन व साहित्यिक - वैचारिक सरोकारों और लक्ष्यों की निरन्तरता व दृढ़ता ने उनको प्रसिद्धि दिलाई।

शर्मा जी ने हिन्दी व अंग्रेजी साहित्य के अलावा भाषा - विज्ञान, इतिहास, मार्क्सवाद, समाजशास्त्र आदि का अध्ययन किया जिससे उनकी दृष्टि का विकास तो हुआ ही साथ ही विस्तृत हुआ आलोचनात्मक लेखन। कहा जा सकता है कि भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास आदि सभी स्तरों पर बहुत सारे विवादों को झेलते हुए भी रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध

<sup>1</sup> डा. रामविलास शर्मा, लोक जीवन और साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृष्ठ - 56

<sup>2</sup> डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 56

किया है। डा. निर्मला जैन के अनुसार, “डा. रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी दृष्टि से हिन्दी साहित्य की परम्परा की नई व्याख्या प्रस्तुत करके मार्क्सवादी आलोचना का सामर्थ्य स्थापित कर दिखाया”<sup>1</sup> शर्मा जी ने अध्ययन की नई - नई जगह तलाश करते हुए अपने लेखन में नए मूल्यों की स्थापना की।

### अमृतराय (1915 - 1996)

साहित्य में संयुक्त मोर्चा, नई समीक्षा, आधुनिक भावबोध की संज्ञा सह चिंतन, प्रेमचन्द की प्रासंगिकता आदि पुस्तकों के लेखक अमृतराय पहले कथाकार हैं उसके बाद आलोचका इनका आलोचनात्मक लेखन सीमित लेकिन महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का सम्यक निरूपण किया। अमृतराय की पुस्तक ‘नई समीक्षा’ मार्क्सवादी आलोचना पर आधारित है जिसमें मार्क्स के सिद्धांतों पर चर्चा है। मार्क्सवादी आलोचना से प्रेरित अमृतराय इस आलोचना की समाज व साहित्य के सम्बन्ध विषयक व्याख्या को सही मानते हैं।

अमृतराय समस्त साहित्य को वर्ग - विभक्त समाज का साहित्य मानते हैं। जो वर्गीय शोषण को सच्चाई के साथ उजागर करके शोषित वर्गों को साहित्य के जरिए क्रान्ति के लिए लामबद्ध भी करता है। साधारणीकरण और सामूहिक भाव में अमृतराय समानता देखते हैं, उनका मानना है कि साधारणीकरण लोकहृदय से सम्बन्ध रखता है और लोक हृदय में ही सामूहिक भावों का वास रहता है अतः दोनों का प्रयोजन एक ही है। विषमता है तो यह कि लोकहृदय का वर्णनकर्ता समीक्षक जनसमूह से जुड़ा रहता है जबकि साधारणीकरण में ऐसा नहीं है।

मानव प्रेम व सामाजिक बदलाव को अमृतराय प्रगतिशील साहित्य के मुख्य पहलू मानते हुए कहते हैं कि ‘आज का प्रगतिशील साहित्य विश्व के मानवतावादी साहित्य का ही क्रान्तिकारी विकास है।’ साहित्यकार अपने वर्ग और परिस्थिति से प्रभावित होकर साहित्य रचना करता है, और उसके मानदण्ड युगसापेक्ष होते हैं। साहित्यकार जीवन की वास्तविकताओं को स्वीकार करके

<sup>1</sup> निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 61



ही परिवर्तनकामी साहित्य की रचना कर सकता है। सामाजिक यथार्थवाद के सम्बन्ध में बात करते हुए अमृतराय बताते हैं कि समाज में व्याप्त भूख, गरीबी, अशिक्षा, बेकारी आदि की चिंता समाजवादी साहित्यकार के साहित्य में मौजूद होती है, और जनविद्रोह के दमन की खिलाफत भी। यथार्थवाद का काम समाज के अच्छे व बुरे दोनों पक्षों को देखना व वर्णित करना है। 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार' निबन्ध में अमृतराय मार्क्सवादी आलोचकों की साहित्य से अपेक्षा का जिक्र करते हुए कहते हैं कि साहित्यकार के लिए मार्क्सवादी बनना जरूरी नहीं है वरन जीवन के प्रति सच्चा बनना जरूरी है। अमृतराय की गोर्की, रविन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द आदि के प्रति उदार व मानवतावादी दृष्टि का कारण उनके साहित्य का जनजीवन से जुड़ाव ही है। इसी सामाजिक प्रवृत्ति के कारण ही अमृतराय ने महादेवी के लेखन का स्त्री स्वाधीनता के संदर्भ में विस्तृत अध्ययन किया है। अमृतराय मार्क्सवाद को खाँचाबद्ध सिद्धांत न मानकर जीवन से जुड़ा हुआ दर्शन मानते हैं।

अमृतराय की आलोचना की दो खास बातें रही हैं एक तो वे किसी भी कृति की समीक्षा से पहले भूमिका तैयार करते हैं, दूसरा वे मार्क्सवादी होते हुए भी मार्क्सवादी संकीर्णताओं से स्वयं को बचाए रखते हैं। अमृतराय की आलोचना की सार्थकता इन्हीं कारणों से है।

### **शिवदानसिंह चौहान (1916 - 2000)**

प्रगतिवाद (1946), साहित्य की परख (1948), हिन्दी गद्य साहित्य (1952), हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष (1954), साहित्यानुशीलन (1955), आलोचना के मान (1958), साहित्य की समस्याएं (1958), प्ररिपेक्ष्य को सही करते हुए आदि चौहान जी की महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें हैं।

शिवदानसिंह चौहान ने 1937 में 'विशाल भारत' में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक से लेख लिखा। जिसमें साहित्य पर पूंजीवाद का प्रभाव बताते हुए उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को निरूपित किया। आलोचना पत्रिका के संस्थापक सम्पादक के रूप में काम करते हुए शिवदानसिंह चौहान ने आलोचना को नया रूप दिया। शिवदानसिंह चौहान अपने समकालीन साहित्य को ऐतिहासिक व मार्क्सवादी दृष्टि से देखते थे, जिसने आलोचना को एक

नया विवेक दिया। अपनी कृति 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' को उन्होंने सिर्फ आधुनिक हिन्दी साहित्य का ही नहीं बल्कि समग्र खड़ी बोली का इतिहास माना है।

शिवदानसिंह चौहान पर जहां अतिमार्क्सवादी होने के आरोप लगते रहे हैं वहीं यह बात भी देखने की है कि उन्होंने माना कि मार्क्सवाद और अध्यात्म का समन्वय जरूरी है पंत जी के सन्दर्भ में उन्होंने एक जगह लिखा है, “पंत जी ही ऐसे युगदृष्टा विचारक हैं, जिन्होंने मार्क्सवादी विचार दर्शन की सीमाओं को उस समय ही देख लिया था जबकि उसके नाम से चंद व्यक्ति ही इस देश में परिचित थे।”<sup>1</sup> सैद्धान्तिक आलोचना में मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि रखने वाले चौहान जी की रचनाओं में मूलतः समन्वय देखने को मिलता है, “मार्क्सवादी आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी उनकी चिंताएं अधिक संतुलित और व्यापक हैं। जैसा कि हिन्दी के और भी प्रगतिवादी आलोचकों के साथ था, उनके लिए भी विचारधारात्मक संघर्ष करते हुए ही मार्क्सवादी आलोचना का विकास करना था।”<sup>2</sup> शिवदानसिंह चौहान साहित्य का उद्देश्य जनता की चेतना का विकास करना मानते हैं न कि सनसनीखेज बातें फैलाना या राजनैतिक प्रचार करना। उनका मानना है कि साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह साहित्य को आमजन की अभिव्यक्ति देकर उसे मानवीय धरातल से जोड़े। तभी साहित्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन का रास्ता साफ होगा।

शिवदानसिंह चौहान का मानना है कि आलोचक को पूर्वाग्रहों से मुक्त रहकर तटस्थ होकर निष्पक्ष रूप से कृति का मूल्यांकन करना चाहिए। संकुचित मानसिकता व खांचाबद्ध वैचारिकता से बाहर निकलकर तटस्थ होकर कृति का सही और वास्तविक मूल्यांकन संभव है। जबकि, “आलोचक अपने अनुसंधान की विशिष्ट दुनिया को ही सबसे अधिक मूल्यवान मान बैठता है और अपने क्षेत्र की स्थापनाओं की अपेक्षा में संपूर्ण जीवन की व्याख्या करने लगता है।”<sup>3</sup> और इसी कारण न रचना का भला हो पाता और न ही रचनाकार का, बल्कि कृति कुछ संकुचित खांचों में फंसकर पाठकों को गुमराह करने लगती है। शिवदानसिंह चौहान ने अपने आलोचना कर्म में

<sup>1</sup> शिवदानसिंह चौहान, आलोचना के मान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 121

<sup>2</sup> मधुपेश, मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान, आधार प्रकाशन, पंचकूला, भूमिका से

<sup>3</sup> शिवदानसिंह चौहान, आलोचना के मान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 24

जहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया वहीं सौंदर्यबोध से भी अनजान नहीं रहे और इसी के आधार पर संतुलन बना पाए। शिवदानसिंह चौहान की आलोचना दृष्टि में उतरोत्तर विकास दिखाई देता है। शुरुआती समीक्षा में मार्क्सवाद से प्रभावित चौहान जी बाद में सौंदर्यबोध तथा समाजशास्त्र को भी उतना ही महत्त्व देने लगे थे जितना की मार्क्सवाद को, “शिवदानसिंह की ‘आलोचना’ साहित्य को समाजशास्त्र के अन्तर्गत देखे जाने की पेशकश कर रही थी।”<sup>1</sup>

### मुक्तिबोध (1917 - 1964)

कामायनी पुनर्विचार (1961), एक साहित्यिक की डायरी (1966), नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध (1968) आदि आलोचनात्मक कृतियों के रचनाकार मुक्तिबोध प्रगतिवाद व प्रयोगवाद के सेतुकवि हैं। जहां उन्होंने प्रगतिशील कवि के रूप में प्रसिद्धि पाई वहीं प्रयोगवाद के ‘तारसप्तक’ में भी शामिल रहे। मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों तरह की आलोचना में वैचारिक सुलझाव व मौलिकता है। इसी वैचारिक धरातल पर वे जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, कुँवर नारायण, शमशेर बहादुर सिंह की खुलकर आलोचना करते हैं।

हालांकि मुक्तिबोध ने आलोचना की व्यवस्थित पुस्तकें नहीं लिखी पर उनका फुटकर आलोचनात्मक लेखन महत्त्वपूर्ण है। आलोचनात्मक जकड़न से मुक्त होकर मुक्तिबोध ने जिस तरह से ‘एक साहित्यिक की डायरी’ लिखी है वह एक अनुठा प्रयास है जिसे मुक्तिबोध के आलोचनात्मक प्रयोग के रूप में देखा जाना चाहिए।

मुक्तिबोध की आलोचना प्रगतिवाद व आधुनिकतावाद के संदर्भों को सुलझाती प्रतीत होती है। मुक्तिबोध एक तरफ जहाँ प्रगतिवादियों की खामियों से निराश थे वहीं दूसरी तरफ उनका आधुनिकतावादियों के साथ वैचारिक टकराव चल रहा था। मुक्तिबोध का रचनात्मक व आलोचनात्मक लेखन एक साथ चल रहा था। उनके आलोचनात्मक लेखन में मौलिकता व समृद्ध परम्परा का चिन्तन शामिल है। कामायनी का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा है कि “कामायनी साहित्य के रसवादी - छायावादी पुरापंथियों के हाथ में, नवीन प्रगति शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र

<sup>1</sup> कमलेश्वर, जो मैंने जिया, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ - 54

बन गई है।”<sup>1</sup> कामायनी की वर्ग - दर्शन के आधार पर मुक्तिबोध ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है उसमें उनकी मार्क्सवादी दृष्टि झलकती है। बाद के लेखन में वे एक सचेत आलोचक की तरह अपनी ही रचना प्रक्रिया का निर्ममता से विश्लेषण करते हैं।

मार्क्सवादी आलोचक होते हुए भी मुक्तिबोध का नई कविता का मूल्यांकन अन्य मार्क्सवादी आलोचकों से भिन्न था। वे नई कविता के प्रयोगों से कुछ हद तक प्रभावित थे लेकिन उसकी व्यक्तिवादी व अंतर्मुखी धारणा से उनका संघर्ष था, उन्होंने नई कविता के जड़ व अमूर्त सौंदर्य का विरोध किया, “आधुनिक भावबोध सम्बन्धी उनकी धारणा, जन - साधारण की उपेक्षा करके लघु - मानव की उनकी कल्पना, समाज और जनता को भीड़ कहकर उसका अपमान करने की प्रवृत्ति, पूँजीवादी समाज - रचना और साम्यवादी समाज - रचना दोनों को औद्योगिक सभ्यता कहकर उस औद्योगिक सभ्यता के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व के नाश की अनिवार्यता मानना, और इस प्रकार मानव की विफलता और अगतिकता को मूलभूत और चरम मानकर अनाशा की प्रस्थापना करना ये मुझे असंगत, अनुचित और हानिप्रद मालूम होती है।”<sup>2</sup>

मुक्तिबोध ने कहा कि ‘कला के प्रश्न जीवन के प्रश्न हैं’ तथा ‘साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक है।’ साहित्य रचना के लिए जीवन का ज्ञान, उसका अनुभव, उसका यथार्थ आवश्यक है। इन सबके बिना ना साहित्य की रचना हो सकती है और ना ही उस साहित्य की समीक्षा। मुक्तिबोध का कहना है कि “यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है, तो समीक्षक को यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक जीवन है या नहीं। असल में, कसौटी वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान ही है, जो न केवल लेखक और समीक्षक में होता है, वरन पाठक में भी रहता है। वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति किसी की वपौती नहीं। इसी समीक्षा शक्ति के सहारे बड़े - बड़े व्यक्तित्वों का निर्माण होता है।”<sup>3</sup> मुक्तिबोध जीवन - ज्ञान से संचालित आलोचना को महत्त्व देते हैं और उसी को मर्म से भरी आलोचना मानते हैं। इसी आलोचना से साहित्य व मनुष्य का

<sup>1</sup> निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 74 - 75

<sup>2</sup> वही, पृष्ठ - 77

<sup>3</sup> नैमिचन्द्र जैन (सम्पा.), मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड - 5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 69

भला हो सकता है। मुक्तिबोध आलोचकों से शब्दों, शास्त्रों व जटिल उद्धरणों से बाहर निकलकर मानव जीवन से जुड़कर आलोचना करने की नसीहत देते हैं।

मुक्तिबोध आलोचक के व्यक्तित्व का सवाल उठाकर आलोचना को नई जमीन पर लाकर खड़ा कर देते हैं। उनका मानना है कि साहित्यिक रचना में लेखक पात्रों के चरित्र - चित्रण ही नहीं करता बल्कि स्वयं भी अभिव्यक्त होता है। ठीक इसी तरह से तटस्थ दिखने वाली आलोचना में भी आलोचक की विचारधारा व व्यक्तित्व समाहित होता है। रचनाकार और आलोचक को सिर्फ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही नहीं करनी चाहिए अपितु उसके विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। मुक्तिबोध का मत है कि वही आलोचक रचनाकार के उद्देश्य को समझ सकता है जो जीवन के सत्य से जुड़ा हुआ हो और मानवीय संवेदना से सराबोर हो। आलोचक के लिए निष्पक्ष व निरपेक्ष होना बहुत जरूरी है। निरपेक्ष रहकर यथार्थ के आधार पर ही वह रचना और रचनाकार के साथ न्याय कर सकता है। कोरे सिद्धान्तों से रचना का मर्म नहीं समझा जा सकता।

मुक्तिबोध ने अपने समकालीन रचनाकारों पर काफी लिखा और विवेक के साथ लिखा। उनके उस लेखन को आज भी नकारा नहीं जा सकता। मुक्तिबोध ने त्रिलोचन के काव्य को बेचैनी और विह्वलता का काव्य कहा है तो भारत भूषण की कविताओं को 'मामूली आदमी' की कविताएं कहा है। मुक्तिबोध जब भी किसी रचनाकार की आलोचना करते हैं तो उनका उद्देश्य उस लेखक को परास्त करना नहीं होता। वे अपनी असहमति को बहुत सहज और स्पष्ट तरीके से प्रकट करते हैं। दिनकर की 'उर्वशी' को उन्होंने शासक वर्ग की अभिव्यक्ति कहा। मुक्तिबोध साहित्य मर्मज्ञ के मन से आलोचना करने बैठते हैं, वे किसी रचनाकार को सामने न रखकर रचना को आधार बनाकर सीधी - सपाट भाषा में कृति की समीक्षा करते हैं। वे समाज के व्यापक प्रश्नों की पड़ताल कृति में करते हैं व रचनाकार के मनस्तत्वों की पहचान करते हुए समीक्षा करते हैं। मुक्तिबोध ने व्यावहारिक व सैद्धान्तिक दोनों स्तरों पर हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया है।

## नैमिचन्द्र जैन (1919....)

कवि के रूप में अज्ञेय के 'तार सप्तक' में पहचान बनाने वाले नैमिचन्द्र जैन बाद में नाट्य आलोचना में प्रविष्ट हुए। 1965 में ये 'नटरंग' त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादक रहे, तथा 1966 में 'अधूरे साक्षात्कार' पुस्तक के साथ हिन्दी आलोचना में प्रवेश किया। नैमिचन्द्र जैन ने मुक्तिबोध रचनावली का सम्पादन किया तथा 'पाया पत्र तुम्हारा' में अपने पत्रों का संकलन प्रस्तुत किया। 'बदलते परिप्रेक्ष्य' और 'जनतांत्रिक' शीर्षक निबन्ध संकलन के बाद नैमिचन्द्र ने नाट्यालोचना में ख्याति प्राप्त की। इस संदर्भ में 'भारतीय नाट्य परम्परा' उनकी चर्चित पुस्तक रही है जिसमें भारतीय रंग - परम्परा व रंगमंच सम्बन्धी व्याख्या दी गई है। नैमिचन्द्र जैन का मानना है कि शहरों में बदलती जीवन शैली व दुरुह जीवन से रंग - परम्परा का हास हुआ है।

नैमिचन्द्र जैन की नाट्य सम्बन्धी तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें रंग - दर्शन (1967), आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच (1979), भारतीय नाट्य परम्परा (1981) प्रकाशित हुईं। इसके अलावा रंगमंच में रुचि के फलस्वरूप उन्होंने 1993 में मोहन राकेश के नाटकों का सम्पादन 'मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक' शीर्षक से किया। रंग - दर्शन नामक पुस्तक में नैमिचन्द्र ने भारतीय रंगमंच के सभी पक्षों को गहराई से समझने का प्रयास किया है। उन्होंने रंगकर्मी की दृष्टि से रंगमंच की सार्थकता खोजी, जो उनकी आलोचना की उपलब्धि कही जा सकती है। उनका मानना है कि नाटक की सफलता रंगमंच पर ही निर्भर करती है लेकिन हिन्दी नाटकों में रंगमंचीय दृष्टि का घोर अभाव है।

नाटक के अलावा नैमिचन्द्र जी ने उपन्यास की आलोचना की है। अपनी पुस्तक 'अधूरे साक्षात्कार' में उन्होंने 'उसका बचपन', 'नदी के द्वीप', 'यह पथ बन्धु था', 'बूंद और समुद्र', 'भूले बिसरे चित्र', 'मैला आंचल', 'झूठा - सच', 'जयवर्धन', 'चारुचंद्र लेख' आदि उपन्यासों की कलात्मकता का वर्णन किया है। उपन्यास के प्रति उनमें असंतोष है और उसके भविष्य के बारे में चिंता भी, "उन्हें यह भय है कि कहीं अपना पूरा स्तर प्राप्त किए बिना ही, अपनी संभावनाओं को

चरितार्थ किए बिना ही हिन्दी उपन्यास अकाल मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा?”<sup>1</sup> आगे के आलोचकों के लिए नैमिचन्द्र यहां सवाल छोड़ देते हैं।

### रांगेय राघव (1923 - 1962)

संगम और संघर्ष (1953), महाकाव्य विवेचन (1958), काव्य, यथार्थ और प्रगति, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, गोरखनाथ और उनका युग, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, ‘भारतीय संत परम्परा और समाज’ आदि रचनाओं से रांगेय राघव ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया।

कथाकार के रूप में ख्याति प्राप्त रांगेय राघव ने आलोचना में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों में गिने जाने वाले रांगेय राघव की आलोचना पर विवाद भी बहुत खड़े हुए। उन्होंने अपनी आलोचना में समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि के आधार पर साहित्य का संतुलित मूल्यांकन किया है। उनका मानना है कि सिर्फ आर्थिक स्थिति के आधार पर साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं है। सामाजिक जीवन में शामिल राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियां भी साहित्य को प्रभावित करती हैं। इन परिस्थितियों को समझकर सामाजिक जीवन को आत्मसात करके ही कोई साहित्यकार उपयोगी साहित्य का निर्माण कर सकता है।

‘प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड’ पुस्तक में रांगेय राघव लिखते हैं कि सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए रचनाकार अपने वर्ग - स्वार्थों से ऊपर उठ जाता है, और यह साहित्य प्रगति का परिचायक होता है। आदिकाल या मध्यकाल के काव्य में प्रगतिशील चेतना खोजने की बजाय रांगेय राघव आधुनिक काव्य पर अधिक बल देते हैं। इस संदर्भ में वे ‘तुलसीदास के साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य’ ढूंढने वाले रामविलास शर्मा की तीखी आलोचना करते हैं। छायावाद के चारों मुख्य कवियों में वे महादेवी वर्मा को सबसे अधिक प्रगतिशील मानते हैं, जिसका कारण महादेवी के काव्य में सामाजिक बंधनों को तोड़ने वाले स्त्री प्रेम का स्वर है।

---

<sup>1</sup> नंदकिशोर नवल, हिन्दी आलोचना का विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 279

रांगेय राघव ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' में सभी वादों से ऊपर उठकर प्रेम और शृंगार का विस्तृत मूल्यांकन किया है। राग पक्ष को महत्त्व देते हुए वे इस कृति में अन्तस के भावों की व्याख्या करते हैं। 'आधुनिक हिन्दी कविता' शीर्षक पुस्तक में रांगेय राघव ने आधुनिक कविता के कथ्य और रूप का समीक्षात्मक अध्ययन किया है। उनका मानना है कि 'आज की कविता में नयापन स्वाभाविक और युगानुरूप है।' रांगेय राघव साहित्यिक मूल्यांकन में वर्ग और वाद से ऊपर उठकर रचना के रूप और वस्तु पर केन्द्रित रहे जिस कारण कहीं न कहीं सामाजिक जीवन के तत्वों को कृति में खोजने में असफल रहे। वर्ग - संघर्ष पर आधारित प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक आलोचना से कई मुद्दों पर वे सहमत नहीं हैं, उनका कहना है कि प्रगतिशीलता को सीमित अर्थों में नहीं बांधा जा सकता। रांगेय राघव ने कुछ सीमाओं के बावजूद हिन्दी आलोचना में उल्लेखनीय योगदान दिया।

### **विजयदेव नारायण साही (1927 - 1982)**

साही जी ने 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस' करते हुए आलोचना के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। इन्होंने हिन्दी आलोचना परम्परा में नवीन शब्दावली, नए प्रत्यय, मौलिक शैली एवं आलोचना की नवीन दृष्टि के लिए जाना जाता है।

साही जी आचार्य नरेन्द्रदेव से प्रभावित होकर स्वतंत्रता आन्दोलन में शामिल हुए। काशी विद्यापीठ में अध्यापन करने के दौरान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए और उसके बाद अनेक श्रमिक संगठनों में जुटकर काम किया। भदोही में कालीन बुनकरों का संगठन बनाया। डा. राममनोहर लोहिया के सम्पर्क में आकर सोशलिस्ट हुए। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आकर मार्क्सवादी विचारधारा से मोहभंग हुआ और समाजवादी विचारधारा में विश्वास बढ़ा। प्रलेस के बरक्स 'परिमल' नामक संगठन खड़ा करने में साही जी की मुख्य भूमिका रही इन्होंने परिमल को इतना मजबूत बनाया कि जल्दी ही वह प्रलेस को टक्कर देने लगा। साही जी ने मार्क्सवादी आलोचना पर व्यंग्य किया। भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवियों में शामिल 'जायसी' के काव्य की समीक्षा साही जी ने की।



## नामवर सिंह (1927 - .....)

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (1952), आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां (1954), छायावाद (1955), पृथ्वीराज रासो की भाषा (1956), इतिहास और आलोचना (1962), कहानी नई कहानी (1966), कविता के नए प्रतिमान (1968), दूसरी परम्परा की खोज (1982), वाद विवाद संवाद (1989), जमाने से दो दो हाथ (2010) आदि नामवर सिंह की महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां हैं।

नामवर सिंह के लेखन की विशेषता यह रही है कि उन्होंने जिस भी सिद्धान्त या मान्यता को गढ़ा है वह देर - सबेर साहित्यिक जगत में स्वीकार हुई है। कालिदास, वाल्मीकि, तुलसीदास, भारतेन्दु, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द व निराला के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा व नामवर सिंह के विचारों में काफी हद तक समानता है। नामवर सिंह के आलोचनात्मक लेखन की शुरुआत 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश के योग' के साथ 1952 में हुई, जिसे विस्तार मिला 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' में। एक आलोचक के रूप में उनकी पहचान 'छायावाद' से ही बनी।

नामवर सिंह ने 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' शीर्षक पुस्तक में हिन्दी साहित्य की चार प्रवृत्तियों रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद का उल्लेख किया है। एकांगी दृष्टिकोण के कारण कहीं कहीं वैचारिक विकृतियां होने के बावजूद हिन्दी साहित्य के विकास में इसका योगदान अपूर्व है। अपनी दृष्टि की मौलिकता, वैचारिक संघर्ष, सार्थक विवेचन व सृजनात्मक भाषा के साथ नामवर सिंह ने 'छायावाद' के माध्यम से हिन्दी आलोचना में अपनी मुकम्मल पहचान बनाई। इस पुस्तक में नामवर सिंह ने भक्तकवियों की स्वानुभूति की चर्चा छायावादी काव्य के संदर्भ में की है। द्विवेदी युग के काव्य से विकसित इस आन्दोलन ने आगे प्रगतिवाद के विकास को आधार प्रदान किया।

'इतिहास और आलोचना' पुस्तक में नामवर सिंह का वैचारिक संघर्ष है। नामवर सिंह साहित्य रचना के लिए अनुभूति को अनिवार्य मानते हैं। नामवर सिंह का कहना है कि सामाजिक यथार्थ को जानने के बाद ही हम अपने मन में प्रवेश कर सकते हैं, "जिन्होंने समाज की वर्तमान

विषमता से आंखे मूंद ली है उन्हें अपने जीवन के बारे में सोचने - विचारने से छुट्टी है और यदि वे सोचते - विचारते हैं तो केवल निजी जरूरत की बातें। उनके सोचने में गहराई नहीं होती, इसलिए उनमें मानवता नहीं होती। इस प्रकार गहराई की व्यापकता मानवता तक जाती है।”<sup>1</sup> इसी पुस्तक में नामवर सिंह ने साही, अज्ञेय आदि की आत्मविश्वास व विवेक के साथ आलोचना की है। मार्क्सवादी दृष्टि के साथ समस्याओं की व्याख्या व समाधान भी नामवर सिंह ने प्रस्तुत किए हैं।

मूलतः कविता की आलोचना करने वाले नामवर सिंह जब कहानी के क्षेत्र में आए तो उन पर आरोप लगे कि वे कविता के प्रतिमानों से कहानी का मूल्यांकन कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं भी यह बात स्वीकार की। कहानी का मूल्यांकन करने के पीछे उनका उद्देश्य आलोचना पद्धतियों की खोज करना था, जिनके आधार पर साहित्य की सभी विधाओं का मूल्यांकन किया जा सके, “जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता - उपन्यास आदि साहित्य रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की भी समीक्षा होनी चाहिए। इससे कहानी समीक्षा का एक ढांचा तैयार होगा ही, साथ ही साथ मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा और सम्पूर्ण साहित्य के मतों की अपर्याप्तता भी क्रमशः कम होगी।”<sup>2</sup> नामवर सिंह का मानना है कि कहानी की सामाजिक शक्ति अपेक्षित अधिक है और उसका पाठक वर्ग भी।

एक आलोचक के रूप में उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना को चुना और मार्क्सवाद को ही साहित्य की व्याख्या का सही आधार माना। मार्क्सवादी आलोचना में प्रवेश के साथ ही नामवर सिंह के सामने समस्या आई साहित्य और समाज के सम्बन्धों को समझने - समझाने की। उनके समकालीन आलोचकों में पहले से ही यह बहस का मुद्दा बना हुआ था जिसमें छायावादी भावुकता, कल्पनाहीनता और प्रकृति प्रेम पर आधारित काव्य में सामाजिक सत्य की खोज का प्रयास हो रहा था। नामवर सिंह ने छायावाद के आधारस्तम्भ चारों कवियों का गहराई से अध्ययन तथा मूल्यांकन किया और छायावाद की कल्पना में सामाजिक सत्य की खोज की। छायावाद को हिन्दी साहित्य के विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी मानते हुए उन्होंने लिखा कि “छायावाद ही

<sup>1</sup> नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 22

<sup>2</sup> नामवर सिंह, कहानी: नई कहानी, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 26

हिन्दी साहित्य की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसका जन्म हमारे साहित्य की विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ और फिर विशेष परिस्थितियां उत्पन्न हो जाने के कारण इनका पर्यवसान भी हो गया। पर अब यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक स्थापित तथ्य है।<sup>1</sup> नामवर सिंह का मानना है कि “छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रुढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया।”<sup>2</sup> उन्होंने छायावादी कल्पना की गहराई में उतरकर सामाजिक सत्य को तलाशा।

नामवर सिंह एक सचेत आलोचक के रूप में अपने चिन्तन का विकास करते हैं। अपने समय का प्रभाव ग्रहण करते हुए वे अपने विचारों को पुनः संयोजित करने व जरूरत पड़ने पर बदलने की गुंजाइश भी रखते हैं। नामवर सिंह साहस और चुनौती को पसन्द करने वाले आलोचक हैं, उनमें अस्वीकार का साहस भी है और चुनौती को स्वीकार करने की हिम्मत भी। नामवर सिंह की आलोचना सैद्धान्तिक स्तर पर जितना संवाद प्रस्तुत करती है उतना ही व्यावहारिक स्तर पर भी।

### **शिवकुमार मिश्र (1931 - 2013)**

नया हिन्दी काव्य (1962), प्रगतिवाद (1966), मार्क्सवादी साहित्य चिंतन: इतिहास तथा सिद्धांत (1973), यथार्थवाद (1975), साहित्य और सामाजिक संदर्भ (1977), प्रेमचन्द विरासत का सवाल (1981), दर्शन साहित्य और समाज (1981), भक्तिकाव्य और लोकजीवन (1983), हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1986), आलोचना के प्रगतिशील आयाम (1987), मार्क्सवाद देवमूर्तियां नहीं गढ़ता (2005), भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य (2010) मिश्र जी की आलोचनात्मक कृतियां हैं।

---

<sup>1</sup> नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 150

<sup>2</sup> वही, पृष्ठ - 151

शिवकुमार मिश्र का आलोचक के रूप में विकास नंददुलारे वाजपेयी के सानिध्य में हुआ और उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया रामविलास शर्मा ने। एक आलोचक के रूप में स्वतंत्र रास्ता चुनते हुए वे मार्क्सवादी आलोचना के साथ आगे बढ़े। वे आलोचना को एक सामाजिक कार्य के रूप में स्वीकार करते हैं और मार्क्स की सामाजिक परिवर्तन की धारणा को स्वीकारते हुए साहित्य का काम समाज की व्याख्या के साथ - साथ सामाजिक बदलाव को मानते हैं। 'वंदावनलाल वर्मा: उपन्यास और कला' नामक पुस्तक को मिश्र जी के आलोचना कर्म का प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने ऐतिहासिक व सामाजिक उपन्यासों के शिल्प, देशकाल, चरित्र - चित्रण, रोमांस, भाषा आदि का विश्लेषण किया है। 'कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा' शीर्षक पुस्तक में मिश्र जी ने कामायनी में नारी और प्रेम, दार्शनिक भक्ति, काम का स्वरूप, पौराणिकता आदि का वर्णन - विश्लेषण किया है। 'नया हिन्दी काव्य' में मिश्र जी ने छायावाद, प्रगतिवाद, नई कविता आदि की समीक्षा आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक आधार पर की है।

'प्रगतिवाद' पुस्तक में मिश्र जी ने प्रगतिशील आन्दोलन तथा प्रगतिवादी साहित्य (कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, समीक्षा आदि) का विस्तृत मूल्यांकन किया है। 'मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन: इतिहास तथा सिद्धांत' में मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की भूमि, प्रमुख चिन्तक व साहित्यिक सवालों पर चर्चा की है। 'यथार्थवाद' उनकी प्रसिद्ध व चर्चित पुस्तक है जिसमें पश्चिमी साहित्य में यथार्थवाद के जन्म, यथार्थवादी कला आंदोलन, प्रकृतिवाद, भारतीय जीवन व कला और साहित्य में यथार्थवाद के प्रभाव, यथार्थवाद के चरित्र व भविष्य के बारे में विस्तृत समीक्षा की है। उनका उद्देश्य पाठकों के सामने मार्क्सवाद के इतिहास और सिद्धांत पक्ष को प्रस्तुत करना है। वे लिखते भी हैं कि "इस पुस्तक के सम्बन्ध में मेरा कोई दावा नहीं है, मैंने इतना जरूर चाहा है कि जिज्ञासु पाठक के समक्ष मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन को अपनी समग्रता में सारी आवश्यक भूमि में प्रस्तुत करूं।"<sup>1</sup>

<sup>1</sup> डा. शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन: इतिहास तथा सिद्धांत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ - 3

शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'साहित्य और सामाजिक संदर्भ' में साहित्य और समाज के आपसी सम्बन्ध को व्याख्यायित किया है। 'दर्शन, साहित्य और समाज' नामक पुस्तक में मिश्र जी ने दर्शन, साहित्य, समाज, संस्कृति के आपसी रिश्तों तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। साथ ही नागार्जुन, मुक्तिबोध, मार्कण्डेय, यशपाल आदि कवियों के काव्य की व्यावहारिक समीक्षा की है। मिश्र जी ने प्रेमचन्द की रचनाओं के व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व देते हुए उन पर लिखी पुस्तक 'प्रेमचन्द विरासत का सवाल' में प्रेमचन्द और भारतीय मुक्ति आंदोलन, साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल, व्यक्ति और विचार आदि शीर्षक से निबन्ध लिखे। 'भक्तिकाव्य और लोकजीवन' में शिवकुमार मिश्र ने कबीर, नानक, तुलसी, जायसी, सूरदास, गुरु गोविन्द सिंह आदि पर निबन्ध लिखे। इस सम्बन्ध में मिश्र जी ने आचार्य शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध के विचारों को भी रेखांकित किया है।

शिवकुमार मिश्र ने सैद्धान्तिक आलोचना पर अधिक बल दिया। व्यावहारिक आलोचना में इन्होंने उदार दृष्टि अपनाई। साफ - सुथरी भाषा व स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए वे हिन्दी आलोचना में अलग स्थान रखते हैं। कहा जा सकता है कि मिश्र जी ने हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

### **निर्मला जैन (1932....)**

निर्मला जैन ने आधुनिक हिंदी काव्य में रूप विधाएं, रस - सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, आधुनिक साहित्य: मूल्य और मूल्यांकन, हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, आधुनिक हिंदी काव्य: रूप और संरचना, पाश्चात्य साहित्य चिंतन, कविता का प्रति संसार, कथाप्रसंग - यथाप्रसंग, काव्य चिंतन की पश्चिमी परम्परा आदि आलोचनात्मक पुस्तकों की रचना की। इनके अतिरिक्त इन्होंने बहुत सी पुस्तकों का दूसरी भाषाओं से हिंदी में अनुवाद किया है।

निर्मला जैन पाश्चात्य साहित्य चिंतन को इतनी गहरी समझ के साथ प्रस्तुत करने वाली पहली महिला आलोचक हैं। हिंदी आलोचना के द्वाद्व में संस्कृत तथा पाश्चात्य चिंतन के बीच चल

रही बहस के दौरान इन्होंने पाश्चात्य चिंतन को ग्रहण करते हुए इसकी व्याख्या की। इन्होंने हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना पर काम किया तथा पाश्चात्य सिद्धांतों का परिचय करवाया। पाश्चात्य चिंतन को हिंदी में स्थापित करने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।

वैचारिक लेखन में महिलाओं की अनुपस्थिति संबंधी इस मान्यता कि महिलाएं बुद्धि या विचार का काम नहीं कर सकती को निर्मला जी ने तोड़ा तथा हिंदी आलोचना को स्थापित करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। निर्मला जी ने साहित्य के रसास्वादन तथा संस्कृति के सवाल पर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। तथा एक आलोचक के तौर पर स्थापित हुई। हिंदी आलोचना में उनके योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इन्होंने केवल वैचारिक लेखन ही नहीं किया बल्कि वैचारिक बहस के लिए लगातार छोटे - छोटे कस्बों में जाकर गोष्ठियां करती रहीं।

### **विश्वनाथ त्रिपाठी (1933...)**

देश के इस दौर में (2000), पेड़ का हाथ (2000), लोकवादी तुलसीदास (2007), मीरा का काव्य (2010), हिन्दी आलोचना (2013), कुछ कहानिया: एक विचार आदि विश्वनाथ त्रिपाठी की प्रमुख कृतियां हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी जी हिन्दी आलोचना के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ 'संदेश रासक' का सम्पादन करके व 'लोकवादी तुलसीदास' तथा 'मीरा का काव्य' शीर्षक पुस्तकों में भक्तिकाव्य के जनवादी मूल्यों को उद्घाटित किया है। तुलसी काव्य सम्बन्धी मूल्यांकन को समझने के लिए उसकी भूमि में पाण्डेय जी ने तुलसी की लोकदृष्टि का विस्तृत वर्णन किया है। त्रिपाठी जी ने मीरा को तत्कालीन सामन्ती समाज की पीड़ित नारी के रूप में चित्रित किया है।

त्रिपाठी जी मुक्तिबोध तथा हरिशंकर परसाई के लेखन में गहरी समानता देखते हैं व इसे स्वतंत्र भारत में उत्पन्न सहयोगी संवेदना मानते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी रामविलास शर्मा से कितने प्रभावित हैं इसका पता इसी बात से चलता है कि 'वसुधा' के रामविलास शर्मा केन्द्रित अंक का उन्होंने सम्पादन ही नहीं किया बल्कि अलग - अलग समय पर नामवर सिंह द्वारा शर्मा जी पर

लिखे लेखों को एक ही स्थान पर छापकर नामवर सिंह के अंतर्विरोधों पर टिप्पणी की तथा शर्मा जी को विवादों से निकाल लाए।

### **ओमप्रकाश ग्रेवाल (1937 - 2006)**

ओमप्रकाश ग्रेवाल ने हिंदी तथा अंग्रेजी की साहित्यिक कृतियों पर आलोचनात्मक लेख लिखे। कविता की आलोचना तथा विचारधारात्मक लेख उनकी पुस्तक 'साहित्य और विचारधारा (1994)' में संकलित हैं। जिसमें उन्होंने साहित्य और विचारधारा के संबंधों, साहित्य और राजनीति के अंतः संबंध, लुकाच के वास्तविकतावाद, मुक्तिबोध के मानवतावाद, उत्तर - आधुनिकतावाद, नई आलोचना, जनभाषा, कविता में मध्यवर्गीय आक्रोश तथा राजेश जोशी व उदय प्रकाश पर जिस समझ के साथ स्पष्टता से लिखा है, वह सिर्फ आलोचनात्मक पुस्तकों की संख्या में वृद्धि नहीं करता बल्कि आगे के आलोचकों को साहित्य अध्ययन की दिशा भी प्रदान करता है।

हिंदी के अलावा उन्होंने अंग्रेजी के विद्वान जेम्स हेनरी की सांस्कृतिक विचारधारा पर 'हेनरी जेम्स: दि आइडियोलॉजी आफ कल्चर' नामक पुस्तक लिखी। संस्कृति के अध्ययन से शुरुआत करते हुए डा. ग्रेवाल ने आलोचना, विचारधारा तथा राजनीति पर अपनी स्पष्ट राय कायम की। लेखन में उनकी रुचि सौंदर्य, प्रेम या प्रकृति की बजाय वैचारिक साहित्य में अधिक रही। शेक्सपीयर, चार्ल्स डिकन्स, लेव टॉलस्टाय, दोस्तोयवस्की, लुकाच, ग्राम्शी, मार्क्स, प्रेमचंद, मुक्तिबोध आदि के विचारों का प्रभाव उनके लेखन पर रहा। डा. ग्रेवाल उस छदम बौद्धिकता को खोखली मानते हैं जिसमें सामाजिक सरोकार तथा इंसानी संवेदना का सार न हो। वे विचारधारा को काल्पनिकता से उपर उठकर वास्तविक जीवन से जोड़ते हैं, और विचारधारा का अनिवार्य तत्व मानते हैं शोषितों के हितों का समावेश। वे मनुष्य की गरिमा तथा स्वतंत्रता के पक्षधर हैं।

डा. ग्रेवाल लम्बे समय तक जनवादी लेखक संघ से जुड़े रहे, तथा राष्ट्रीय स्तर के पदों पर कार्य किया, 'राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी - उर्दू के लेखकों को संगठित करने में उनकी बड़ी भूमिका थी। साहित्य समीक्षक के रूप में देश की अनेक पत्रिकाओं में उनके साहित्य - संस्कृति, समकालीन

आलोचना, कहानी पर गम्भीर शोधपरक आलेख छपे व चर्चित हुए।<sup>1</sup> डा. ग्रेवाल ने 'जतन' तथा 'नया पथ' पत्रिकाओं का सम्पादन किया।

### मैनेजर पाण्डेय (1941....)

शब्द और कर्म (1981), साहित्य और इतिहास दृष्टि (1981), भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मेरे साक्षात्कार (1988), साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका (1989), संकट के बावजूद (1998), अनभै सांचा (2002), भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा (2013), आलोचना में सहमति असहमति (2013) मैनेजर पाण्डेय की आलोचनात्मक कृतियां हैं।

मैनेजर पाण्डेय के आलोचना कर्म की शुरुआत आठवें दशक में हुई। राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक बदलाव के इस युग में आलोचक मैनेजर पाण्डेय का आविर्भाव हुआ। भक्तिकालीन धारणाओं से हटकर सूर साहित्य की व्याख्या करते हुए 'सूरदास परंपरा और प्रतिभा' विषय पर अपना शोधकार्य करने के बाद मैनेजर पाण्डेय ने विस्तृत अध्ययन और गंभीर तैयारी के साथ आलोचना में प्रवेश किया, "उनकी आलोचना में सतही यथार्थ के बजाय विभिन्न प्रातिनिदिक कलाकृतियों में अंतर्निहित यथार्थ की द्वंद्वत्मकता को चीन्हने की चाह है। सच तो यह है कि उनका आलोचना साहित्य हमारे समय - समाज की विसंगति और विडंबना को उजागर करने के साथ ही इनसे मुक्ति का मार्ग बतलाने में भी सक्षम है।"<sup>2</sup> मैनेजर पाण्डेय मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्रभावित रहे। सामाजिक परिवर्तन के लिए पाण्डेय जी साहित्य को एक मुख्य कड़ी के रूप में देखते हैं। लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि मार्क्सवादी दृष्टि के आधार पर रचा गया साहित्य ही परिवर्तन की भूमिका निभा सकता है। क्योंकि, "मार्क्सवाद समाज और मानव व्यवहार को केवल समझने और व्याख्या करने का ही दर्शन नहीं है उसका प्रयोजन समाज और मनुष्य को बदलना भी है।"<sup>3</sup> मैनेजर पाण्डेय इस सामाजिक बदलाव के लिए मनुष्य में विरोध की प्रवृत्ति का होना लाजिमी मानते हैं, "भूमण्डलीकरण के चलते वैश्विक जगत के साथ - साथ भारतीय समाज

<sup>1</sup> डा. शिवकुमार मिश्र, डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान, जून - 2006

<sup>2</sup> रवि रंजन, आलोचना का आत्मसंघर्ष, गद्यकोश, 11.5.2016

<sup>3</sup> मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 62



पर आए 'संकट के बावजूद' मैनेजर पाण्डेय की आलोचना, पाठक को समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के प्रपंच और क्रूर आतंक के सामने पलायन की जगह, विपरीत स्थितियों से जमकर लोहा लेने के लिए प्रेरित करती है। देश और समाज की राजनीति और संस्कृति को आकार देने में कलम की शक्ति के प्रति उनकी आस्था दृढ़ है और यह आस्था ही उनके 'शब्द और कर्म' की मूल अंतर्धारा है।<sup>1</sup> मैनेजर पाण्डेय ने 'मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष' में मुक्तिबोध के संदर्भ में अतिरंजना से बचकर आलोचना में विचारधारा के संघर्ष पर बल दिया है। 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में पाण्डेय जी की साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि उजागर होती है।

### वीरभारत तलवार (1947....)

वीरभारत तलवार की आलोचनात्मक कृतियों में किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचन्द: 1918 - 1922 (1990), राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य: कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियां (1993), रस्साकशी (2002) आदि हैं।

वीरभारत तलवार ने तीन पत्रिकाओं फिलहाल (1972 - 74), शालपत्र (1977 - 78), झारखण्ड वार्ता (1977 - 78) का सम्पादन किया तथा राजनैतिक कार्यकर्ता रहते हुए महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पत्र लिखे। इन्होंने आदिवासी क्षेत्र में बांधों की सम्भावना पर अध्ययन किया तथा राँची विश्वविद्यालय में आदिवासी भाषाओं के प्रसार के लिए आन्दोलन किया। इन्होंने साहित्य के जीवन में प्रवेश अपने शोधकार्य से किया। आलोचक के रूप में तलवार जी की नवजागरण में विशेष रुचि रही है।

साहित्य तथा आलोचना के बदलते प्रतिमानों को ग्रहण करते हुए वीरभारत तलवार ने नए तथा पुराने का साम्य करते हुए अपनी आलोचना की शुरुआत की है। 'किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचन्द (1918 - 1922)' विषय पर अपना शोधकार्य करते हुए इन्होंने प्रेमाश्रम को केन्द्र में रखा। अपने शोधकार्य में वीरभारत तलवार ने मूल स्रोतों की गहराई में जाकर समाज की सही व्याख्या करने का प्रयास किया है। प्रेमाश्रम पर चल रहे विवादों को सुलझाते हुए उसके राजनैतिक

---

<sup>1</sup> रवि रंजन, आलोचना का आत्मसंघर्ष, गद्यकोश, 11.5.2016

व सामाजिक महत्त्व पर इन्होंने विचार किया है। दासयुग, सामन्ती युग तथा पूंजीवादी युग में शुरु से ही चले आ रहे धार्मिक तथा बौद्धिक शोषण का उल्लेख तलवार जी ने किया है। उत्पीड़ित वर्गों के प्रति सहानुभूति के कारण ही वे कहते हैं कि “उत्पीड़ित वर्गों के संघर्ष और उनकी भूमिका को सामने लाना और उसका महत्त्व दिखाना एक बात है लेकिन उसकी स्वायत्तता दूसरी बात।”<sup>1</sup>

‘राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य’ शीर्षक पुस्तक में तलवार जी ने नवजागरण पर विस्तृत अध्ययन किया है। नवजागरण सम्बन्धी रचनाओं एवं रचनाकारों के माध्यम से इन्होंने नवजागरण की प्रकृति को समझने की कोशिश की है जिसमें कहीं - कहीं पुराने आलोचकों की मदद भी ली गई है। वे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द तथा रामविलास शर्मा को सामंतवाद व साम्राज्यवाद से सीधे टकराने वाले साहित्यकारों के रूप में देखते हैं। समकालीन आलोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले तलवार जी हिंदी आलोचना में श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

### **कर्णसिंह चौहान (1948....)**

आलोचना के नये मान (1978), साहित्य के बुनियादी सरोकार (1982), प्रगतिवादी आलोचना का इतिहास आदि कर्णसिंह चौहान की महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां हैं।

कर्णसिंह चौहान प्राचीन सिद्धांतों में नई सम्भावनाएं तलाश करते हुए नए परिदृश्य में हिन्दी आलोचना की नब्ज टटोल रहे थे। नामवर सिंह और अशोक वाजपेयी का संयुक्त रूप से अध्ययन वे यथार्थवाद को आधुनिकता में मिलाने वाले आलोचकों के रूप में करते हैं। ‘साहित्य के बुनियादी सरोकार’ पुस्तक में कर्णसिंह चौहान प्रगतिशील आलोचना में आए उतार - चढ़ावों तथा प्रगतिशील आंदोलन में चल रही समस्याओं को उजागर करते हैं। इस पुस्तक के लेखों ‘प्रगतिशील लेखक संगठन के आधार’, ‘जनवादी समीक्षा का एक दशक’, ‘जनवादी साहित्य की समस्याएं’ में जनवादी साहित्य व आलोचना में चल रही उथल - पुथल के प्रति उन्होंने खासी चिन्ता व्यक्त की है। प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन की समस्याओं से जूझते हुए कर्णसिंह जनवादी साहित्य की रचना में संलग्न रहे।

<sup>1</sup> वीरभारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द: 1918 -1922, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 167

कर्णसिंह चौहान प्रगतिशील साहित्य की पृष्ठभूमि में 1947 के विद्रोह तथा 1917 की रूसी क्रांति को देखते हैं। स्वतंत्रता आंदोलन ने जहां हिन्दी साहित्य को प्रेरित प्रभावित किया वहीं रूसी क्रांति ने विश्वस्तर पर साहित्य को प्रगतिशील स्वरूप दिया। उन्होंने लिखा है कि “1967 - 1977 के बीच आलोचना के जनवादी उभार पर बात करते हुए हम भले ही भारतेन्दु से शुरु होने वाली आलोचना के विकास की चर्चा न भी करें, लेकिन 1947 - 1967 के बीच हुई आलोचना की दुर्गति को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। आज के आलोचकों के लिए वह एक सबक ही नहीं है, बल्कि जनवादी आलोचना के संघर्ष और महत्त्व को समझने की एक जरूरी शर्त भी है।”<sup>1</sup>

### शंभुनाथ (1948....)

साहित्य और जनसंघर्ष (1980), मिथक और आधुनिक कविता (1985), प्रेमचन्द का पुनर्मूल्यांकन (1988), दूसरे नवजागरण की ओर (1995), दुस्समय में साहित्य (2002), हिन्दी नवजागरण और संस्कृति (2004) आदि उनकी मुख्य आलोच्य कृतियां हैं।

डा. शंभुनाथ ने ‘मिथक और आधुनिक कविता’ पुस्तक में शंभुनाथ ने मिथक और आधुनिकता के संदर्भ में विस्तृत चर्चा की है। प्रिय प्रवास, साकेत, कामायनी, राम की शक्तिपूजा, कुरुरमुत्ता, रश्मि रथी, अंधायुग, कितनी नावों में कितनी बार, संसद से सड़क आदि रचनाओं में मिथक, आधुनिकता, मानवतावाद, फंतासी को खोजकर अपनी गहरी आलोचना दृष्टि का परिचय दिया है। परंपरा और आधुनिकता के संदर्भ में शंभुनाथ ने मिथक का विस्तृत अध्ययन किया है। उनका मानना है कि “मिथकों में हमारी परंपरा के अनेक अर्थ और संभावनाएं सुरक्षित हैं जो हमारे जीवन के ही अर्थ और संभावनाएं हैं।”<sup>2</sup>

डा. शंभुनाथ ने रामविलास शर्मा पर ऐतिहासिक आलोचनात्मक विवेक से टिप्पणी की है और शर्मा जी की आलोचना को नए संदर्भ में विवेचित किया है। उन्होंने शर्मा जी को ऐसा मार्क्सवादी आलोचक माना है जिन्होंने परंपरा, संस्कृति, नवजागरण एवं समकालीन साहित्यिक

<sup>1</sup> कर्णसिंह चौहान, साहित्य के बुनियादी सरोकार, मेकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 45

<sup>2</sup> डा. शंभुनाथ, मिथक और आधुनिक कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ - 11

परिस्थितियों की विस्तृत आलोचना की। शंभुनाथ की चिंता यह है कि मार्क्सवादी आलोचकों ने मार्क्स को भारतीय समाज के अनुसार बदला नहीं बल्कि ज्यों का त्यों मार्क्सवादी सिद्धांतों को अपने ऊपर आरोपित कर लिया जिसे शंभुनाथ बौद्धिक उपनिवेशवाद को वैचारिक परजीविता के रूप में देखते हैं।

शंभुनाथ ने प्रेमचन्द के साहित्य को जीवन का सच्चा रूप प्रस्तुत करने वाला साहित्य कहा है तथा उसमें व्याप्त त्याग एवं बलिदान के गुणों को महत्त्वपूर्ण बताया है। प्रेमचन्द को केन्द्र बनाकर वे भारत के समाज और संस्कृति को समझने का प्रयास करते हैं। शंभुनाथ ने मार्क्सवाद के सिद्धांतों को आत्मसात करने के साथ भारतीय समाज को भी समझा है और तटस्थ होकर परंपरा और आधुनिकता का मूल्यांकन किया है। उनमें स्वीकार का विवेक भी है और नकार का साहस भी।

#### **पुरुषोत्तम अग्रवाल (1955....)**

संस्कृति: वर्चस्व और प्रतिरोध, तीसरा रूख, विचार का अनंत (2007), शिवदान सिंह चौहान, कबीर: साखी और सबद (2007), अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका युग (2012) आदि कृतियों के रचनाकार पुरुषोत्तम अग्रवाल हिन्दी आलोचना को समृद्ध कर रहे हैं।

‘कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ’ विषय पर अपना शोधकार्य करने के बाद इन्होंने कबीर पर लगातार दो किताबों ‘कबीर: साखी और सबद’ तथा ‘अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका युग’ की रचना की। कबीर के बारे में चल रहे विमर्शों से अलग पुरुषोत्तम अग्रवाल ने उत्तर आधुनिक संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन किया है, “कबीर से प्रेरणा लेने की बात यही है कि मनुष्य - मनुष्य के बीच उठा दी गयी विभिन्न दीवारों को गिराने का जतन किया जाए। विभिन्न पहचानों को जड़ीभूत करने की बजाय मनुष्य की मनुष्यता को पहचाना जाए सामाजिक - राजनैतिक प्रक्रियाओं का आधार जन्मजात सांस्कृतिक अस्मिताओं में नहीं, साड़ी नागरिकता की

कल्पना में खोजा जाए”<sup>1</sup> इस पुस्तक में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर को जिज्ञासु, प्रखर, संवेदनशील और विचारवान लेखक माना है।

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने आधुनिक युग से पहले धर्म की खुलकर आलोचना करने वाला एकमात्र व्यक्ति कबीर को माना है। कबीर एक धर्म विशेष की आलोचना ना करके सभी धर्मों के मूल तत्वों की समीक्षा कर रहे थे, वो भी नए धर्म की स्थापना के लिए नहीं। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर की धर्मसम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “कबीर की कविता इस तथ्य का रोमांचक प्रमाण देती है कि वे अपने वक्त से ही नहीं, धर्मसत्ता की वास्तविकता को समझने के प्रसंग में हमारे भी वक्त से आगे थे।”<sup>2</sup>

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर के काव्य के बारे में नई स्थापनाएं करते हुए इसे प्रेम का काव्य कहा है, “कबीर की कविता आधुनिक चित्त के निकट लगती है क्योंकि वह लगातार जिरह करती है। पारंपरिक मान्यताओं से, सामाजिक व्यवस्थाओं से। इस जिरह का आधार है - प्रेम।”<sup>3</sup>

‘अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका युग’ पुस्तक पुरुषोत्तम अग्रवाल की प्रसिद्धि का आधार रही है। हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक ‘कबीर’ के बाद इस पुस्तक में कबीर को नए संदर्भ में समझने की कोशिश की गई है। प्रत्येक रचनाकार अपने समय, समाज और परम्परा से किसी हद तक प्रभावित होता है। कबीर और द्विवेदी पर भी यह प्रभाव देखा जा सकता है, और पुरुषोत्तम अग्रवाल ने इस प्रभाव को समझने तथा उद्धाटित करने का पूरा प्रयास किया है। डा. दयाशंकर के अनुसार, “पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी आलोचना की बहुत सी ताकत कबीर की हिन्दी आलोचना परम्परा पर औपनिवेशिक ज्ञानकांड के प्रभाव को पढ़ने, सामान्य बोध - आधारित घोषणाओं से लड़ने में झोंक दी है।”<sup>4</sup> पुरुषोत्तम अग्रवाल साहित्य की व्याख्या नए संदर्भों में करने वाले आलोचक हैं।

---

<sup>1</sup> पुरुषोत्तम अग्रवाल, कबीर: साखी और शब्द, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, भूमिका से

<sup>2</sup> वही, भूमिका से

<sup>3</sup> वही, भूमिका से

<sup>4</sup> आलोचना, नामवर सिंह (सम्पादक), अंक - 46, जुलाई - सितम्बर, 2012, पृष्ठ - 146

## रोहिणी अग्रवाल (1959....)

‘साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्वास (2014)’, ‘हिंदी कहानी: वक्त की शिनाख्त और सृजन का राग’, ‘इतिवृत की संरचना और संरूप (पंद्रह वर्ष के प्रतिमानक उपन्यास)’ आदि रोहिणी अग्रवाल की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

‘साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्वास (2014)’ पुस्तक के विमोचन के अवसर पर इन्होंने अपने लेखन के बारे में बताया कि ‘मैं कहानीकार और आलोचक के रूप में जब भी कागज लेकर लिखने बैठती हूँ तो कलम मेरे पंख बन जाते हैं। मैंने जब बतौर आलोचक इस पुस्तक को लिखा तो मुझे स्त्री मन के उच्छ्वासों को उसके पूरे वितर्कों के साथ संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को इसमें उतारना पड़ा।’

कहानी पर लिखी आलोचनात्मक पुस्तक ‘हिंदी कहानी: वक्त की शिनाख्त और सृजन का राग’ में रोहिणी अग्रवाल ने निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध, संजीव, ज्ञानरंजन, आदि की कहानियों पर चर्चा की है। रोहिणी अग्रवाल ने किसी एक युग, रचनाकार, कृति की व्याख्या न करके सभी युगों के नए पुराने साहित्य को मिलाकर उसकी जांच - पड़ताल करती है। वे सिर्फ स्थापित साहित्यकारों को नहीं उठाती बल्कि नए साहित्यकारों की खबर भी लगातार रखती हैं और इस दौरान वह नए साहित्यकारों को जगह देते हुए साहित्य सृजन की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं।

रोहिणी अग्रवाल की स्त्री स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता उनके लेखन में साफ तौर पर झलकती है। वे अस्मिता विमर्श की आलोचक हैं जिन्होंने अपने लेखन में अस्मिताओं को उभारा है। रोहिणी अग्रवाल ने स्त्री विमर्श एवं आदिवासी विमर्श पर लेखन किया, तथा इनके जीवन संघर्ष के मूल्यों को पहचान कर अपनी आलोचना में उतारा है। साहित्य में उभरे पारिस्थितिक संकट विषयक विमर्श को भी इन्होंने रेखांकित किया है।

रोहिणी अग्रवाल मौलिकता के साथ लेखन करती हैं। उनकी आलोचना शैली की विशेषता यह है कि जैसे - जैसे वे किसी कृति का उद्घाटन करती हैं उसी में मूल्यांकन समाहित होता चला जाता है। उनकी सरलता सहजता में ही ज्ञान की पोटली खुलती है। रोहिणी अग्रवाल के

लेखन की शैली परम्परागत नहीं है। उन्होंने हिंदी आलोचना की शैली में एक अलग प्रतिमान की स्थापना की है। कहा जा सकता है कि रोहिणी अग्रवाल के पास सजग दृष्टि है, विश्लेषण की समझ है, मूल्यांकन का पैमाना है। जिनके दम पर वे पाठकों को बांधे रखती हैं तथा रचनाकारों को दिशा देती हैं।

आलोचना परम्परा को विकसित करने में अनेक आलोचकों ने अपना योगदान दिया है। इन आलोचकों ने आलोचना की अनेक पद्धतियों के माध्यम से कृति की विभिन्न रूपों में व्याख्या की है। आज के आलोचकों को सुलझी हुई तथा समृद्ध परम्परा विरासत में मिली है जिसे आगे बढ़ाने का काम प्रदीप सक्सेना, अजय तिवारी, विजय कुमार, वैभव सिंह, पल्लव, अनिल त्रिपाठी, रामाज्ञा शशिधर, राकेश बिहारी, अशोक कुमार पाण्डेय आदि कर रहे हैं।